

# शहर की घड़ी में समय बोध

**कु**छ पुस्तकें एक संदर्भ ग्रंथ जैसी होती हैं लेकिन वे उससे भी कुछ अधिक होती हैं। वे अपनी विषय वस्तु में अभिनव, सामग्री में प्रयोगशील और प्रस्तुति में एक गहरी कल्पनाशीलता से भरी लगभग एक सृजनात्मक कृति का रूप ले लेती हैं।

अभी कुछ समय पहले प्रकाशित मधुश्री दत्ता की बहुचर्चित पुस्तक 'डेट्स साइट्स : प्रोजेक्ट सिनेमा सिटी' ऐसी ही एक विलक्षण पुस्तक है। यह इस शहर का एक नई तरह का 'नरेटिव' बनाती है। यहां आधुनिक नगरीय चेतना के विकास और लोकप्रिय हिंदी सिनेमा की संरचना को एक-दूसरे के साथ रख कर देखा गया है। शहर और सिनेमा दोनों ही बीसवीं सदी के सबसे बड़े आख्यान रहे हैं। यह पुस्तक 20वीं सदी के दौरान इस शहर की स्मृतियों का एक 'टाइमलाइन' तैयार करती है, जिसमें उत्पादन की पदार्थमयता और सिनेमा का मायालोक एक बिंदु पर आकर एक-दूसरे से जुड़ गए हैं। शहरी अवस्थिति, राजनीतिक-सामाजिक घटनाओं के परिपार्श्व, अप्रवासी आबादी के विस्तार, उत्पादन के ढांचे, मनुष्यों के विराट सम्मिलन, मजदूर चेतना, श्रम, हुनर, टेक्नॉलॉजी, जगहों और स्थानों की विशिष्टताओं, मानव मन में छिपे विविध सपनों, कल्पनाओं की उड़ान तथा वास्तविकता व छवियों के जटिल संबंधों के संदर्भ रचते हुए मधुश्री दत्ता इस शहर को 'सिनेमा सिटी' कहती हैं। उनकी यह अवधारणा व्यापक और बहुस्तरीय है।

मधुश्री दत्ता फिल्मकार और 'एक्टिविस्ट' हैं, 'मजलिस' नाम की एक बहुउद्देशीय संस्था चलाती हैं। अपने 'प्रोजेक्ट सिनेमा सिटी' के तहत उन्होंने अंतर-अनुशासनों वाली एक नगर-अध्ययन शृंखला शुरू की है। तारीखों और स्थान से जुड़े सामूहिक अवचेतन के इस अध्ययन को वे एक निरंतर विकासमान प्रक्रिया मानती हैं। उसी के क्रम में इस पुस्तक ने आकार लिया है। पुस्तक में अकादमिक किस्म के भारी भरकम लेख या विमर्श नहीं, बल्कि छुटपुट घटनाओं, प्रसंगों, संदर्भों का एक विशाल 'कोलाज' है और उसमें से निकलते हुए अर्थ हैं। यहां बीसवीं सदी का वक्फा दशकों के अनुसार विभिन्न खंडों में विभाजित है और ये दशक बहुत सारी कैलेंडर शृंखलाओं से निर्मित हैं। इनमें एक ओर इतिहास की चुनी हुई तारीखें, घटित की सांकेतिकता, बिखरे हुए सामाजिक आर्थिक सूत्र, विगत की याद दिलाते हुए कुछ फुटकर नोट्स, स्फुट विचार, अवतरण, उद्धरण, हवाले और स्मृति बिंदु हैं तो दूसरी ओर जिसे हम आज बॉलिवुड सिनेमा कहते हैं, उसकी कुछ भूली बिसरी छवियां, चित्र, कैलेंडर, धुंधले से दिखते सिनेमा पोस्टर, लोकप्रिय चेहरे जनश्रुतियां, किस्से, किंवदंतियां और दूसरी तमाम विजुअल सामग्री और उनका एक परिपार्श्व है। जो बीत गया है, वह मायावी लगने लगता है।

पुस्तक में शब्द-सामग्री मधुश्री दत्ता की है और उसके समानांतर एक विलक्षण कलात्मक डिजाइन और ग्राफिक्स उनकी सहयोगी शिल्पा गुप्ता ने तैयार किए हैं। पाठ और विजुअल्स की इस संवादधर्मिता से एक अद्भुत 'नरेटिव' बना है। हर पन्ने पर इन दोनों संसारों के बीच वे छूटी हुई जगहें और रिक्त स्थान हैं, जिनमें एक पाठक को अपने अर्थ भरने हैं और इस शहर के एक खास 'कम्पोजिट' समय-बोध को प्राप्त करना है। उदाहरण के लिये बम्बई में 1896 में पहली बार किसी मूवी सिनेमा का प्रदर्शन होता है और 1897 में बम्बई में पहली बार मोटर कार आती है। लेकिन इसी के साथ उसी वर्ष प्लेग की महामारी पर नियंत्रण के लिये जन-स्वास्थ्य विभाग बड़ी कठोरता से गरीब बस्तियों को खाली कराता है, पुलिस के गश्ती दल घर-घर लोगों की टोह लेते घूमते हैं, हजारों बेबस लोग शहर छोड़ कर भाग खड़े होते हैं। यह

शहर के सामूहिक अवचेतन में बसी स्मृतियों का एक अतियथार्थवादी संसार है। 1901 में दूसरे बोअर युद्ध की न्यूज रील नॉवेल्टी सिनेमा में दिखाई जाती है और सुदूर घटती किसी घटना से पहली बार साधारण जन मानस की चेतना एकाकार होती है। 1933 में जब विनायक राव पटवर्धन 'माधुरी' फिल्म लेकर आते हैं तो सिनेमा के गाने एक स्वतंत्र मनोरंजन विधा का रूप ले लेते हैं। 1942 में दूसरे महायुद्ध के उन वर्षों में जब ब्रिटिश सरकार अपनी प्रोपेगेंडा फिल्में बनाने के लिये यहां से कच्ची फिल्मों का स्टॉक बाहर भेजने लगती है और अचानक देश में फिल्मों के लिये रॉ स्टॉक की कमी हो जाती है, हमारी किसी फिल्म की लंबाई पर 11 हजार फीट की सीमा तय कर दी जाती है। लेकिन दिलचस्प है कि इसी की वजह से हमारी फिल्मों की लागत में कमी आ जाती है और उनका मुनाफा बहुत बढ़ जाता है। 1950 के दशक में बम्बई राज्य में शराबबंदी अधिनियम लागू होता है और हमारे हिंदी सिनेमा में ऐसे ईसाई चरित्रों की छवि निर्मित होने लगती है, जो पियक्कड़ हैं, और नैतिक रूप से गिरे हुए हैं। यही वह दौर है जब हमारे एक कॉमेडियन का नाम शराब के एक खास ब्रांड के नाम पर 'जॉनी वाकर' रखा जाता है। 1954 में पहली बार कमर जलालाबादी, साहिर लुधियानवी और रामानंद सागर ने 'फिल्म राइटर्स असोसिएशन' का गठन किया और यह संघ



सिनेमाई ट्रेड यूनिइयन के रूप में वामापंथी रुझान वाले प्रगतिशील लेखक संघ से और 'इष्टा' से जुड़ जाता है। 15 दिसम्बर, 1950 को बम्बई में सरदार वल्लभ भाई पटेल की शवयात्रा को फिल्म डिविजन द्वारा फिल्माया जाता है और उसी दिन यह फिल्म रीगल सिनेमा में दिखा दी जाती है। पचास से साठ के दशक में विस्थापन, विषमता और विकास के अंतर्विरोधों का रंग गहरा होता जाता है। यही वह दशक है, जब 'अलबेला' (1951) 'फुटपाथ' (1953), 'बूट पॉलिश' (1954), 'टेक्सी ड्राइवर' (1954), 'हाउस न. 44' (1955), 'मि. ऐंड मिसेज 55' (1955), 'दिल देखो देखो' (1959) और 'जाली नोट' (1960) जैसी फिल्मों के मार्फत महानगर का एक खास परिवेश सिनेमा में उभरता है। पुस्तक में इतिहास की ऐसी बिखरी हुई तारीखों और उनसे जुड़ी सांकेतिकताओं की भरमार है। हम जब पीछे मुड़ कर देखते हैं तो विच्छिन्न सी लगती इन चीजों से एक सामूहिक अवचेतन आकार पाता लगता है।

मधुश्री दत्ता ने अपनी इस पुस्तक में हमारे इस शहर के समय को किसी घड़ीसाज की तरह संभाला है। इतिहासज्ञ की तरह वे बीते हुए का उत्खनन करती हैं, समाज विज्ञानी की तरह हाशियों पर छूटे अर्थों को समझना चाहती हैं, मानवशास्त्री की तरह उप-संस्कृतियों को रेखांकित करती हैं, कवि की तरह कालानुक्रमिकता के तर्क को ध्वस्त करती हैं और एक चित्रकार की तरह रिक्त जगहों में अपने रंग भरती हैं। और इस सारे कार्य को यह पुस्तक बड़े रोचक, हल्के-फुल्के और कसे हुए ढंग से अंजाम देती है।

पुस्तक बताती है कि स्थानिकता के फलक पर घटित, उसका समय-बोध, उसका व्यवसाय, उसमें निहित लोकप्रियता के तत्व, उभरती हुई आकृतियां, अवां गार्द की विकलता, समकालीनता का अर्थ और जनमानस के भीतर की हलचलों को कितनी-कितनी तरह से पढ़ा जा सकता है। एक खिलंदड़े से लेकिन बड़े सारगर्भित अंदाज में इस पुस्तक में जो उभर कर आया है, वह सिर्फ शहर और बम्बईया सिनेमा का एक रंगारंग इतिहास ही नहीं है, बल्कि तथ्यों, आख्यानों, किस्सों, निरीक्षणों, टिप्पणियों, चित्रों, पोस्टरों, कार्टूनों, इमारतों, नक्शों, रिपोर्टों आदि के द्वारा एक 'माइक्रो-नरेटिव' जैसा कुछ है, जिसके तार सभ्यता-विमर्श के एक बड़े आख्यान से जुड़े हुए हैं।